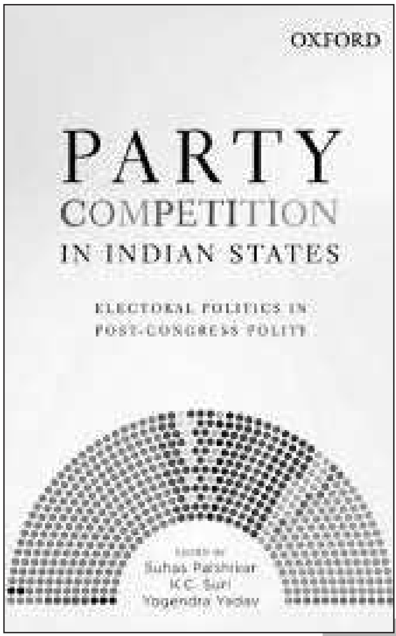
लोकतंत्र, चुनाव और राजनीतिक गत्यात्मकता की सैद्धांतिकी



कमल नयन चौबे

भारत जैसे व्यापक विविधता वाले देश में चुनावी राजनीति और ख़ास तौर पर राज्य स्तरीय राजनीति का गहन अध्ययन करते हुए उसे सैद्धांतिक रूपरेखा में प्रस्तुत करने का लक्ष्य अपने-आप में काफ़ी चुनौती भरा और तक़रीबन असम्भव-सा लगने वाला काम है। भारत के विभिन्न राज्य सिर्फ़ भौगोलिक, जनसांख्यिकीय, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि उनकी राजनीति की दशा और दिशा में भी गहरा अंतर है। कई राज्य (मसलन उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, आंध्र प्रदेश आदि) तो इतने बड़े हैं कि उनके भीतर भी विभिन्न भागों में लोगों के रहन-सहन, संस्कृति और राजनीतिक जागरूकता में ख़ासी भिन्नता है। इस कारण वहाँ की राजनीति बेहद पेचीदा हो जाती है। इसी राजनीतिक जटिलता को विश्लेषित करने का भगीरथ प्रयास सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव द्वारा सम्पादित पुस्तक *पार्टी कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटिक्स* में किया गया है। चुनावों के दौरान सर्वेक्षणों के माध्यम से होने वाले अध्ययन में एक विशिष्ट पद्धति द्वारा आँकड़े एकत्रित कर निष्कर्ष तक पहुँचने का दावा किया जाता है। यह पुस्तक इस पद्धति पर आधारित समाज-विज्ञान का एक बेहतरीन नमूना है।

प्रस्तुत समीक्षा-आलेख का लक्ष्य चुनाव-अध्ययन की संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पेश करते हुए इस पुस्तक द्वारा प्रस्तुत सैद्धांतिक रूपरेखा, चुनाव-अध्ययन के विविध आयामों और सीमाओं की गहराई से पड़ताल करना है। इसमें यह संधान किया गया है कि क्या चुनाव-अध्ययन के माध्यम से इस पुस्तक में प्रयुक्त 'उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था'[1] को भारतीय चुनावी और दलीय राजनीति के समकालीन स्वरूप की व्याख्या के लिए उपयुक्त आधार माना जा सकता है? क्या यह एक ऐसी अवधारणात्मक रूपरेखा है जिसके माध्यम से सोलहवीं लोकसभा चुनाव (2014) के दौरान हुई राजनीतिक उथल-पुथल को भी समझा जा सकता है? क्या चुनाव-अध्ययन के माध्यम से प्रस्तुत राजनीतिक वर्णन देश या किसी विशिष्ट राज्य की राजनीतिक गत्यात्मकता की समुचित समझ प्रस्तुत करते हैं या इस पूरी अध्ययन-पद्धति की कुछ अंतर्निहित सीमाएँ भी हैं?



पार्टी कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटिक्स
सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी
और योगेंद्र यादव
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,
नयी दिल्ली, 2014
मूल्य : 1445 (सजिल्द), पृष्ठ : 563

यद्यपि इस किताब में 2009 के लोकसभा चुनावों को केंद्र में रखते हुए 2007 से 2012 तक हुए राज्य विधानसभा चुनावों को भी समेटने का प्रयास किया गया है, लेकिन प्रस्तुत आलेख में 2014 के लोकसभा चुनावों के नतीजे के आलोक में भी इस पुस्तक के सैद्धांतिक सूत्रीकरण का परीक्षण किया गया है।

आलेख पाँच भागों में बँटा हुआ है : पहले भाग में भारत में एक चुनाव केंद्रित अध्ययन या बहु-चुनाव अध्ययन के वाद-विवाद के संदर्भ में वर्तमान पुस्तक को अवस्थित करने और इस संदर्भ में 2009 के चुनावों के सामान्य विवरणों और विश्लेषणों की बरअक्स इस किताब के मुख्य तर्क को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

दूसरा भाग इस किताब के मुख्य सैद्धांतिक सूत्रीकरण अर्थात् उत्तर कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के विभिन्न आयामों की तफ़्तीश करता है और इस संदर्भ में किताब में वर्णित विभिन्न राज्यों के चुनाव-अध्ययनों के आयामों को प्रस्तुत करता है।

तीसरा भाग प्रस्तुत पुस्तक में चुनाव-अध्ययन की कुछ प्रमुख सीमाओं और समस्याओं तथा इसकी सैद्धांतिकी की कमियों को रेखांकित करता है। चौथे भाग में 2014 के चुनाव नतीजों की रोशनी में उत्तर कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है। पाँचवाँ भाग निष्कर्ष प्रस्तुत करता है।

[1] आलेख के दूसरे भाग में इस पुस्तक द्वारा प्रस्तुत उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा के विशिष्ट पहलुओं की विस्तार से विवेचना की गयी है.

I

पंद्रहवीं लोकसभा चुनावों में कांग्रेस की जीत : वर्च्यु और फ़ॉर्चुना की मिश्रित भूमिका

भारत में चुनाव-अध्ययन का एक लम्बा इतिहास रहा है। विशेष रूप से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) की इसमें महती भूमिका रही है।[2] अस्सी के दशक के आख़िरी वर्षों से इसके एक छोटे अंश अर्थात् चुनाव में सीटों की भविष्यवाणी को मीडिया में कुछ ज़्यादा ही प्रमुख स्थान दिया जाने लगा। नब्बे के दशक के आख़िर तक तक़रीबन सभी समाचार टीवी चैनल इस तरह के सर्वे कराने की होड़ में शामिल हो गये। इस तरह के उद्यम के साथ मुश्किल यह होती है कि इसमें लोकतांत्रिक राजनीति में होने वाले बदलावों का व्यवस्थित तरीक़े से अध्ययन करने का प्रयास निहित नहीं होता। दरअसल, इस तरह का व्यवस्थित प्रयास हर बार केवल विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) की लोकनीति टीम के द्वारा ही किया जाता है। लोकनीति ने न सिर्फ़ चुनाव-नतीजों और उनके कारणों और व्यावहारिक प्रभावों का अध्ययन किया है, बल्कि उसके द्वारा इस संदर्भ में दीर्घकालिक प्रवृत्तियों की शिनाख़्त करते हुए दलीय राजनीति तथा लोकतंत्र में हाशियाबंद समूहों की भागीदारी या उनके उभार जैसे मसलों पर भी गहन अवधारणात्मक समझ तैयार करने का प्रयास किया गया है।[3]

अमूमन चुनाव-अध्ययन करते वक़्त एक ख़ास चुनाव पर ध्यान देने की प्रवृत्ति रही है, लेकिन पिछले कई वर्षों से इस पद्धति की सीमाओं पर भी चर्चा होने लगी है। अस्सी और नब्बे के दशक से विधानसभाओं और लोकसभा के चुनाव अलग-अलग समय पर होने लगे हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि राज्य स्तरीय (विधानसभा) चुनाव और संसदीय चुनावों के नतीजों के बीच किस तरह का संबंध होता है? राष्ट्रीय पैटर्न और एक राज्य के भीतर के पैटर्न को किस प्रकार समझा जा सकता है? धीरे-धीरे विद्वानों को यह महसूस होता जा रहा है कि सिर्फ़ एक चुनाव पर ध्यान केंद्रित करके पूरी राजनीतिक तस्वीर की समझ नहीं बनाई जा सकती है। पुस्तक के सम्पादकगण बल देते हैं कि एक ऐसे निश्चित दौर के अध्ययन पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है, जिसमें लोकसभा चुनावों के साथ-साथ एक विधानसभा चुनाव भी शामिल हो।[4] यह किताब भी इस दिशा में एक प्रमुख प्रयास है। चुनाव-अध्ययन का यह रवैया न तो पूरी तरह से एक चुनाव के फ्रेम से बाहर जाता है और न ही यह राष्ट्रीय स्थिति की व्याख्या के लिए राज्य वाले फ्रेम से बाहर जाता है।[5] किताब के अध्याय मुख्य रूप से राज्यों की विशिष्टताओं पर केंद्रित हैं, लेकिन ये केवल एक चुनाव की रूपरेखा में सीमित नहीं हैं। अधिकांश विवेचनाएँ एक लोकसभा के कार्यकाल के मध्य (2007) से प्रारम्भ होकर दूसरे लोकसभा के कार्यकाल के मध्य (2012) तक का विश्लेषण करती हैं। सम्पादकों का दावा है कि

---

[2] भारत में चुनाव-अध्ययन के इतिहास की सामान्य समझ के लिए देखें, संजय कुमार (2013) : 321-345.

[3] अब चुनाव-अध्ययन और इसकी दीर्घकालिक प्रवृत्तियों के बारे में काफ़ी विपुल साहित्य उपलब्ध है. इस संदर्भ में जानकारी के लिए देखें, सुहास पलशीकर (2014); प्रस्तुत समीक्षा आलेख में भी आवश्यकतानुसार ऐसी किताबों और लेखों का उल्लेख किया गया है. अमूमन हिंदी में इस बारे में चुनावों के वक़्त अख़बारी लेखन ही सामने आता है. लेकिन शोध-आधारित लेखों को प्रकाशित करने के कुछ प्रयास भी हुए हैं. मसलन, अरविंद मोहन (2009); *प्रतिमान* के जनवरी-जून 2014 अंक में सोलहवीं लोकसभा के पहले की स्थिति का जायज़ा लेने के लिए कई दृष्टिकोणों से मतदाता-समूहों पर विचार से सम्बद्ध कई लेख देखे जा सकते हैं.

[4] इनका मानना है कि दरअसल, सिर्फ़ एक संसदीय चुनावों के अध्ययन से आगे बढ़ने का प्रयास संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2009) में किया गया है, जहाँ 2004 के लोकसभा चुनावों को दलीय राजनीति के क्षेत्र में होने वाले बदलावों के व्यापक संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है. इस किताब में 2004 के संसदीय चुनावों और उसके बाद 2007 के विधानसभा चुनावों की गतिविधियों का विश्लेषण किया गया है. सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2014) : 2-3.

[5] वही: (2014) : 40.

इससे हमें विधानसभा और लोकसभा के नतीजों के पारस्परिक संबंध समझने में मदद मिलती है। उनकी मुख्य कोशिश पंद्रहवीं लोकसभा चुनावों को प्रतियोगी राजनीति की व्यापक प्रक्रिया में अवस्थित करने की है।

2009 के लोकसभा चुनावों के नतीजों ने अधिकांश विश्लेषकों और चुनावी अध्ययन के विद्वानों को चकित कर दिया था। आम धारणा के विपरीत इन चुनावों में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन को जीत हासिल हुई थी। पिछले पच्चीस वर्षों में ऐसा पहली बार हुआ कि एक सरकार अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद पुनर्निर्वाचित हुई। नेहरू के बाद मनमोहन सिंह ऐसे पहले प्रधानमंत्री हुए जो अपना एक कार्यकाल पूरा करने के बाद फिर से प्रधानमंत्री बने। निश्चित रूप से कांग्रेस की इस जीत की ज़्यादा गहराई से तफ़्तीश करने की आवश्यकता है— क्या कांग्रेस की जीत मनमोहन सिंह की छवि या सोनिया गाँधी के नेतृत्व के कारण हुई या इसके पीछे कांग्रेस द्वारा अपनाई गयी आर्थिक नीतियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई? क्या यह जीत कांग्रेस पार्टी द्वारा आर्थिक उदारीकरण को बढ़ावा देने के साथ ही 'कल्याणकारी योजनाओं' को बढ़ावा देने की रणनीति की विजय मानी जा सकती है? क्या इसका कारण यह था कि मतदाताओं ने भाजपा की तुलना में कांग्रेस और उसकी नीतियों को ज़्यादा भरोसेमंद माना? क्या कांग्रेस की जीत में यह संकेत छिपे हुए थे कि नब्बे के दशक में क्षेत्रीय दलों के उभार की जिस प्रक्रिया की शुरुआत हुई थी, उसे अब मतदाताओं ने सिरे से ख़ारिज कर दिया? दरअसल, ऐसे कई अन्य सवाल हैं जिनके बारे में अलग-अलग टीकाकारों ने विभिन्न तरह से व्याख्या प्रस्तुत की।

मैकियावेली के लिए फ़ॉर्चुना का अर्थ वर्तमान समय में क़िस्मत या सपाट भाग्य के अर्थ से ज़्यादा था। इसमें सम्पूर्ण संयोग आधारित बाह्य कारक शामिल थे— जैसे संदर्भ, परिस्थितियाँ, संसाधन और इनका अभाव— जिनके लिए हम ज़िम्मेदार नहीं होते लेकिन जो हमारी ज़िंदगी को गहनता से प्रभावित करते हैं। इसी तरह, मैकियावेली के लिए वर्च्यु सिर्फ़ सद्‌गुण के रूप में समझी जाने वाली बातों तक ही सीमित नहीं था : इसका अर्थ 'ह्यूमन एजेंसी' और इच्छा-शक्ति भी है, जो सद्‌गुण का रूप धारण कर सकती है और नहीं भी कर सकती है।

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर ने इस पुस्तक के पहले अध्याय में देश स्तर की राजनीति के संदर्भ में 2009 के चुनाव नतीजों का विश्लेषण किया है। उन्होंने 2009 की चुनावी राजनीति की व्याख्या करने के लिए पुनर्जागरणकालीन इटली में मौजूद वर्च्यु-फ़ॉर्चुना द्वैधता का प्रयोग किया है। ध्यान रहे निकोलो मैकियावेली जैसे चिंतक नागरिक-गणतंत्रवादी परम्परा में अवस्थित थे। उनके लिए फ़ॉर्चुना का अर्थ वर्तमान समय में क़िस्मत या सपाट भाग्य के अर्थ से ज़्यादा था। इसमें सम्पूर्ण संयोग आधारित बाह्य कारक शामिल थे— जैसे संदर्भ, परिस्थितियाँ, संसाधन और इनका अभाव— जिनके लिए हम ज़िम्मेदार नहीं होते लेकिन जो हमारी ज़िंदगी को गहनता से प्रभावित करते हैं। इसी तरह, मैकियावेली के लिए वर्च्यु सिर्फ़ सद्‌गुण के रूप में समझी जाने वाली बातों तक ही सीमित नहीं था : इसका अर्थ 'ह्यूमन ऐजेंसी' और इच्छा-शक्ति भी है, जो सद्‌गुण का रूप धारण भी कर सकती है और नहीं भी है। इनके मुताबिक़ फ़ॉर्चुना-वर्च्यु द्वैधता समकालीन राजनीति के विद्यार्थियों को दो सरल किंतु गहरे सबक़ देती है। पहला, यह हमें याद दिलाती है कि सत्ता का अधिकांश खेल ऐसी स्थितियों में होता है जो किसी और द्वारा निर्मित नहीं होती है या कोई और उनमें बदलाव नहीं कर सकता। अर्थात् राजनीति में होने वाली बहुत सी चीज़ें पहले

से मौजूद, पूर्व निर्धारित या सिर्फ़ सांयोगिक होती हैं। दूसरा, यह समझ राजनीतिक कार्रवाई को अप्रासंगिक नहीं बनाती। इसके विपरीत यह हमें आधुनिक राजनीति में राजनीतिक दक्षता, शक्तियों और बुद्धिमत्ता की केंद्रीयता की याद दिलाता है। ये दोनों ही सबक़ समकालीन भारतीय राजनीति को समझने में मददगार हैं।[6]

2009 के लोकसभा चुनावों के ऊपर होने वाली प्रतिक्रियाओं की समीक्षा करते हुए ये दोनों विद्वान बताते हैं कि बहुत से टीकाकारों ने इससे द्वि-दलीय राजनीतिक प्रतियोगिता का उम्मीद लगाई तथा आर्थिक संवृद्धि और सुधार की प्रक्रिया अबाधित रूप से आगे बढ़ने का अंदाज़ा लगाया।[7] हालाँकि उस समय भी सुहास पलशीकर, महेश रंगाराजन और योगेंद्र यादव जैसे टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया था कि 2009 के चुनाव नतीजों को द्वि-दलीय व्यवस्था की चाह या उसके आगमन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।[8] यादव और पलशीकर मानते हैं कि इन चुनाव नतीजों की व्याख्या करने वाले कई वर्च्यु (सद्गुण) आधारित लेखों में यह दलील दी गयी कि कांग्रेस अपने नेतृत्व, सरकार चलाने के कौशल या उसके विरोधी दलों (मुख्यतः भाजपा) में इसकी कमी के कारण जीती। यह माना गया कि इन चुनावों में मतदाताओं की राजनीतिक वरीयताओं में व्यापक बदलाव हुआ है और यह राष्ट्रीय स्तर का बदलाव है जो राष्ट्रीय दलों के पक्ष में है।[9] इसके अलावा कई टीकाकारों ने इन चुनाव नतीजों की जिस तरह समीक्षा की उसे फ़ॉर्चुना (क़िस्मत या संयोग) आधारित विश्लेषण की श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसे कई लेख दक्षिणपंथी विचारकों द्वारा लिखे गये थे। इनमें मुख्य रूप से इस बात पर बल दिया कि कुछ निश्चित कारकों ने, जिसमें मीडिया और मतदान निर्माता भी शामिल हैं, कांग्रेस के पक्ष में काम किया जिससे उसे जीत मिली।[10]

> **1989 के बाद के दौर में कांग्रेस के प्रभाव में काफ़ी गिरावट आयी है जिसके चलते ग़ैर-कांग्रेसवाद के आधार पर ग़ैर-कांग्रेसी दलों को गोलबंद करने की प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। इस कारण कांग्रेस को तुलनात्मक रूप से कम मत मिलने पर भी जीत हासिल हुई, और कई ऐसे दल कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन में शामिल हुए जो पहले कांग्रेस से परहेज़ करते थे। यादव और पलशीकर इन कारकों को फ़ॉर्चुना (या क़िस्मत) की श्रेणी में रखते हैं क्योंकि इन्हें अपने पक्ष में भुनाने के लिए कांग्रेस ने कोई बड़ा प्रयास नहीं किया था।**

यादव और पलशीकर इस बात पर बल देते हैं कि समाज-विज्ञान में चुनावों के विश्लेषण में पूँजीवाद, उदारतावादी लोकतांत्रिक संस्थात्मक व्यवस्था और सामाजिक पदसोपान जैसी गहन संरचनाओं पर ध्यान दिया जाता है, वहीं तात्कालिक विश्लेषण में मीडिया द्वारा टिकट वितरण, प्रचार योजना,

---

[6] देखें योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2014): 42-43.

[7] यहाँ तक कि कुछ भाजपा समर्थक टीकाकारों ने भी कांग्रेस की जीत के बारे में यह लिखा कि यह उनके लिए दूसरी सबसे अच्छी स्थिति है (निश्चित रूप से पहली सबसे अच्छी स्थिति राजग की जीत होती). देखें, अरुण शौरी (2009); भाजपा नेता अरुण जेटली ने यह लिखा कि नतीजे इस बात को इंगित करते हैं कि मतदाता ऐसी सरकार चाहते हैं जो बाधाओं और रुकावटों से स्वतंत्र होकर काम कर सके. देखें, जेटली (2009); साथ ही देखें, वार्ष्णेय (2009).

[8] देखें, पलशीकर (2009), रंगाराजन (2009) और यादव (2009).

[9] इस संदर्भ में यादव और पलशीकर इन लेखों का उल्लेख करते हैं, मसलन, चिश्ती (2009), सरदेसाई (2009) इत्यादि.

[10] इस तरह के लेखों के लिए देखें, भट्टाचार्य, बिसारिया (2009); हालाँकि यादव और पलशीकर मानते हैं कि प्रभात पटनायक जैसे विद्वानों ने वामपंथ के परिप्रेक्ष्य से चुनाव नतीजों का ज़्यादा गहन विश्लेषण किया है. देखें, पटनायक (2009).

नेतृत्व के प्रस्तुतीकरण आदि कारकों पर बल दिया जाता है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों के बीच एक मध्य मार्ग अपनाया जाए। इस आधार पर विश्लेषण करते हुए वे चुनावों के बाद बनी इस प्रमुख समझ को ख़ारिज करते हैं कि दरअसल ये चुनाव कांग्रेस के पक्ष में किसी व्यापक बदलाव का प्रतिनिधित्व करते थे। इसके बजाय वे यह मानते हैं कि 2009 के लोकसभा चुनाव के नतीजे विभिन्न राज्यों के नतीजों, जो कई बार अलग और विरोधाभासी भी थे, का कुल योग थे। [11]

ग़ौरतलब है कि मतदान प्रतिशत के हिसाब से 2004 के 26.5 की तुलना में कांग्रेस को 2009 में 28.6 प्रतिशत मिले, लेकिन उसकी सीटों में ख़ासा इज़ाफ़ा हुआ। लोकसभा में इसे कुल 206 सीटों पर जीत मिली। 2004 की तुलना में उसे 61 सीटों का लाभ हुआ था। ज़ाहिर है कि मतदान प्रतिशत के आधार पर 2009 के चुनाव नतीजों को कांग्रेस के ज़बरदस्त पुन:उभार की संज्ञा देना सही नहीं होगा, क्योंकि 1996 (28.8 प्रतिशत) और 1999 (28.3 प्रतिशत) के चुनावों में भी कांग्रेस को तक़रीबन इतने ही मत मिले थे। रोचक बात यह है कि 2009 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) के घटक दलों को सभी राज्यों में कुल मिला कर 36.40 प्रतिशत मत मिले, जो कि 2004 में इन दलों को मिले कुल मतों से 0.13 प्रतिशत ही कम थे। हालाँकि इन चुनावों में भाजपा को मिले मतों में 2004 के संसदीय चुनावों की तुलना में गिरावट ही आयी। 2004 में जहाँ भाजपा को 22.2 प्रतिशत मत मिले थे, वहीं 2009 के चुनावों में इसे 18.8 प्रतिशत मत मिले। दूसरी ओर, यद्यपि वाम दलों की चुनावों में ज़बरदस्त हार हुई, लेकिन 2004 की तुलना में उनके मतदान प्रतिशत में मामूली गिरावट हुई। जहाँ 2004 में इन्हें 7.9 प्रतिशत मत मिले थे, वहीं 2009 में इन्हें कुल 7.5 प्रतिशत मत मिले। यादव और पलशीकर के मुताबिक़ इसका प्रमुख कारण यह था कि 2009 के संसदीय चुनावों में इन दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर अधिक सीटों पर चुनाव लड़ा। यह भी एक रोचक तथ्य है कि 2009 के चुनावों में क्षेत्रीय दलों को 28.4 प्रतिशत मत मिले, जो कि 2004 में मिले 31.3 प्रतिशत मत काफ़ी कम थे। लेकिन यह इतने कम नहीं थे कि इनके आधार पर क्षेत्रीय दलों के प्रभाव के क्षरण की घोषणा कर दी जाए। [12]

यादव और पलशीकर कांग्रेस की जीत में 'फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट सिस्टम' (अग्रता ही विजेता) में अंतनिर्हित वितरण-अन्याय की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं, [13] जिसके कारण किसी दल को मिले मत और उसे मिलने वाली सीटों में अक्सर अंतर रहता है। इसके अलावा, कांग्रेस ने उन राज्यों में बेहतर प्रदर्शन किया जहाँ भाजपा से उसका सीधा मुक़ाबला था। भाजपा के सहयोगी दलों के इसका साथ छोड़ने के कारण भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (राजग) और कांग्रेस के नेतृत्व वाले संप्रग के बीच अंतर बढ़ा। फिर कांग्रेस का वोट विभिन्न राज्यों में इस तरह बिख़रा कि इससे उसे उन राज्यों की सीटों के संदर्भ में ग़ैर-आनुपातिक रूप से फ़ायदा हुआ जहाँ उसका भाजपा और वाम दलों से मुक़ाबला था। [14]

यह भी ग़ौरतलब है कि 1989 के बाद के दौर में कांग्रेस के प्रभाव में काफ़ी गिरावट आयी है जिसके चलते ग़ैर-कांग्रेसवाद के आधार पर ग़ैर-कांग्रेसी दलों को गोलबंद करने की प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। इस कारण कांग्रेस को तुलनात्मक रूप से कम मत मिलने पर भी जीत हासिल हुई, और कई ऐसे दल कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन में शामिल हुए जो पहले कांग्रेस से परहेज़ करते थे।

[11] यादव और पलशीकर (2014) : 48.

[12] वही : 54-57.

[13] वही : 56-57.

[14] वही : 62-65.

यादव और पलशीकर इन कारकों को फ़ॉर्चुना (या क़िस्मत) की श्रेणी में रखते हैं क्योंकि इन्हें अपने पक्ष में भुनाने के लिए कांग्रेस ने कोई बड़ा प्रयास नहीं किया था।[15] इसी तरह संप्रग-एक में पारित कई प्रगतिशील क़ानूनों के पीछे वाम दलों के दबाव ने मुख्य प्रेरक भूमिका निभाई, लेकिन इसका फ़ायदा कांग्रेस को मिला। दरअसल, इस पुस्तक में 2007 से 2012 तक की चुनावी गत्यात्मकता को इसी सैद्धांतिक रूपरेखा में बाँधने की कोशिश की गयी है। ग़ौरतलब है कि 1989 के बाद की दलीय व्यवस्था के वर्णन के लिए ये 'उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था' शब्द का प्रयोग करते हैं। सम्पादकगण अपनी प्रस्तावना में यह दलील देते हैं कि 2009 के लोकसभा चुनावों के नतीजों को उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था (पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटी) के नॉर्मलाइजेशन या सामान्यीकरण के तौर पर ही देखा जाना चाहिए।[16]

II

पंद्रहवीं लोकसभा चुनाव और उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था का सामान्यीकरण : स्थायी और छोटे बदलाव

कांग्रेस के प्रभाव और लोकप्रियता में अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध में राजीव गाँधी के शासनकाल के दौरान ही गिरावट आने लगी थी। 1989 के चुनावों के बाद भारत एक तरह से राजनीतिक संक्रमण के दौर से गुज़र रहा है। इसमें दलीय प्रतियोगिता का स्वरूप भी बदला है और इसमें लगातार बदलाव हो रहा है। जब भी ऐसा लगता है कि इसे स्थिरता मिल रही है, कुछ नये घटनाक्रम सामने आ जाते हैं। 2009 के चुनावों को मिला कर इस दौर में लोकसभा के कुल सात चुनाव हुए हैं। इसके अलावा, अलग-अलग समय पर विभिन्न राज्यों के विधानसभा चुनाव भी होते रहे हैं। इस दौर की राजनीति के कारण कई राज्यों में नये राजनीतिक खिलाड़ियों का उभार हुआ और इन्होंने क्षेत्रीय स्तर पर अपनी ज़बरदस्त पैठ भी बना ली है। इस संदर्भ में ख़ास तौर पर जनता दल से अलग हुए विभिन्न धड़ों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनसे समता पार्टी (जो बाद में जद (एकी) बनी), राष्ट्रीय जनता दल (राजद), बीजू जनता दल (बीजद) आदि दल निकले। इसके अलावा, जिन राज्यों में क्षेत्रीय दल पहले से मौजूद थे, उनके प्रभाव में और ज़्यादा बढ़ोतरी हुई। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के दौर में बड़े पैमाने पर अभी तक हाशिये पर रहने वाली सामाजिक शक्तियों का उभार हुआ।

पलशीकर, सूरी और यादव उत्तर कांग्रेस व्यवस्था को दो भागों में बाँटते हैं : पहला, 1998-99 के बीच का दौर और दूसरा 1999-2009 तक का दौर। पहला दौर दलीय प्रतियोगिता या सरकारों के गठन के संदर्भ में काफ़ी अराजकता से भरपूर था, लेकिन इसमें लोकतांत्रिक प्रगति के भी कुछ संकेत निहित थे। उनका मानना है कि इस दौर में नये सामाजिक समूह, नये मुद्दे और नये खिलाड़ी राजनीतिक पटल पर उभरे जिनमें परिवर्तनकारी सम्भावना भी छिपी हुई थी। 1989 के बाद सामने आयी चुनावी और दलीय राजनीति की रूपरेखा को वर्णित करने के लिए यादव ने 'तीसरी चुनावी व्यवस्था' (थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम) शब्दावली का प्रयोग किया था।[17] इस दौर में कांग्रेस के प्रभाव में लगातार गिरावट

---

[15] वही : 66-70.

[16] देखें, सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी, योगेंद्र यादव (2014) : 1-41.

[17] भारत की चुनावी राजनीति में हमेशा ही नये तबक़ों का राजनीतीकरण होता रहा है और राजनीतिक होड़ में शामिल होते रहे हैं। लेकिन 1990 के दशक में यह बात ज़्यादा मज़बूती से उभरकर सामने आयी. इस प्रक्रिया को यादव ने 'दूसरी राजनीतिक उथल-पुथल' (सेकेण्ड डेमॉक्रेटिक अपसर्ज) की संज्ञा दी. इसके कारण कमज़ोर तबक़े, महिलाएँ, दलित सिर्फ़ मतदाताओं के रूप में ही महत्त्वपूर्ण नहीं हुए, बल्कि उन्होंने सत्ता में अपनी दावेदारी भी प्रस्तुत की. देखें, योगेंद्र यादव (1999); 2393-99; इसी तरह, उत्तर भारत में पिछड़ी जातियों के उभार को क्रिस्टॉफ़ जेफ़रलॉ ने 'ख़ामोश क्रांति' की संज्ञा दी है। देखें, क्रिस्टॉफ़ जेफ़रेलॉ (2003)। इस संदर्भ में जावीद आलम ने राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के आँकड़ों की गहराई से पड़ताल करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि दरअसल इस दौर में वंचित और हाशिये के तबक़े ही लोकतंत्र के तलबगार के रूप में सामने आये. देखें, जावीद आलम (2005).

आयी। 1991 के चुनावों के बाद कांग्रेस सरकार बनाने में सफल रही, लेकिन उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे बड़े राज्यों में इसका आधार लगातार सिमटता गया। 1996 में सत्ता से बाहर होने के बाद इसके प्रभाव और संसदीय सीटों में भी काफ़ी कमी आयी। इस दौर में गठबंधन सरकारों का गठन हुआ और काफ़ी हद तक अस्थिरता व्याप्त रही और चुनावों में क्षेत्रीय दलों का बोलबाला बना रहा। लेकिन 1999 के बाद के दौर में राजनीतिक अराजकता में कमी आयी और पिछले दशक के विवादास्पद मुद्दों को समायोजित करने के प्रयास हुए। इस कारण, 1990 के बाद के लोकसभा चुनावों में हिंदू राष्ट्रवाद (मंदिर मुद्दा) और सामाजिक न्याय (मंडल) केंद्र की राजनीति के प्रमुख मुद्दे नहीं रहे। इस दौर में उत्तर कांग्रेस राज्य-व्यवस्था को काफ़ी हद तक स्थायित्व मिला और यह दलीय राजनीति की सामान्य स्थिति बन गयी। आरम्भिक दौर में उत्तर कांग्रेस राज्य-व्यवस्था को जिस भय से देखा गया था, अब उसका स्थान एक तरह के स्वीकार ने ले लिया, जिसे पलशीकर, सूरी और यादव 'नॉर्मलाइजेशन ऑफ़ पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटी' की संज्ञा देते हैं। इस नये चरण में रैडिकल सम्भावनाएँ 'बंद' हुईं और नयी विशेषताएँ चुनावी प्रतियोगिता के नये सामान्य पैटर्न में ढल गयीं।[18]

पहले दौर के चुनावों में एक तरह की अनिश्चितता थी, जिसमें अस्थायित्व और मतदाताओं की नाराज़गी का तत्त्व भी शामिल था। यकायक चुनाव नये तरह के उभार, छँटाई और उथल-पुथल का माध्यम बन गये। उनके साथ सरकारों, नेताओं और पार्टियों को सज़ा देने का तत्त्व भी जुड़ गया था। लेकिन दूसरे चरण के चुनावों में यह डरावना पहलू काफ़ी हद तक कम हो गया। अधिकांश दलों की मतदान भागीदारी काफ़ी हद तक स्थिर हो गयी क्योंकि पिछले चरण में उभरे दलों ने अपने चुनावी आधार को मज़बूत कर लिया था। चुनावों ने एक नियमित चक्र का रूप धारण कर लिया, जिसमें सरकारों के सत्ता में वापसी की सम्भावना बढ़ी और दरअसल, कई सरकारों ने एक से ज़्यादा बार सत्ता में वापसी भी की।

सम्पादक-त्रयी ने इस बात पर भी बल दिया है कि पहले दौर के चुनावों में एक तरह की अनिश्चितता थी, जिसमें अस्थायित्व और मतदाताओं की नाराज़गी का तत्त्व भी शामिल था। यकायक चुनाव नये तरह के उभार, छटाई और उथल-पुथल का माध्यम बन गये थे। उनके साथ सरकारों, नेताओं और पार्टियों को सज़ा देने का तत्त्व भी जुड़ गया था। इसीलिए 1989-99 के दौर में एक के बाद एक सरकारें सत्ता में वापसी कर पाने में नाकाम रहीं। लेकिन दूसरे चरण में चुनावों में यह डरावना पहलू काफ़ी हद तक कम हो गया। अधिकांश दलों की मतदान भागीदारी काफ़ी हद तक स्थिर हो गयी क्योंकि पिछले चरण में उभरे दलों ने अपने चुनावी आधार को मजबूत किया। चुनावों ने एक नियमित चक्र का रूप धारण कर लिया, जिसमें सरकारों के सत्ता में वापसी की सम्भावना बढ़ी और दरअसल, कई सरकारों ने एक से ज़्यादा बार सत्ता में वापसी भी की।[19] पलशीकर, सूरी और यादव उत्तर-कांग्रेस व्यवस्था की कुछ स्थायी और कुछ सूक्ष्म या छोटे क़िस्म की विशेषताओं को रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार स्थायी

[18] यादव ने 2009 के चुनावों के बाद लिखे अपने लेख में ही इस आयाम को रेखांकित किया था. देखें, यादव और पलशीकर (2009) : 42.

[19] सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी, योगेंद्र यादव (2014) : 3-4.

विशेषताएँ वे हैं जो पहले दौर से आरम्भ हुईं और उनका अस्तित्व दूसरे दौर में भी बना रहा, जबकि छोटी विशेषताएँ अभी स्थायी स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाई हैं। इनके अनुसार, इसकी प्रमुख स्थायी विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

पहला, मतदाताओं के लिए अभी भी संसदीय चुनावों में मतदान का फ़ैसला करने के लिए राज्य सरकार सबसे प्रमुख कसौटी (या चिंता) बनी रही।[20] इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर कोई ऐसा नेतृत्व सामने नहीं आया जो राजनीति का पूरी तरह जनमतदान संग्रह में तब्दील कर दे। हालाँकि मनमोहन सिंह को कमज़ोर प्रधानमंत्री साबित करते हुए भाजपा ने अपने प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार लालकृष्ण आडवाणी की 'लौह पुरुष' वाली छवि को भुनाने की कोशिश की, लेकिन उसे कोई ख़ास कामयाबी नहीं मिली। विभिन्न राज यों से संबंधित अध्यायों में यह बात सामने आती है कि 2009 के चुनावों में राज्यों की सरकारों की प्रति नाराज़गी या संतोष की भावना ने मतदाताओं के मतदान रुझान को बड़े पैमाने प्रभावित किया।[21]

सामाजिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में विभिन्न समूहों में राजनीतिक दलों की पैठ के बारे में कुछ विशिष्टताएँ पहले की भाँति ही रही हैं। जहाँ भारतीय जनता पार्टी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और मुसलमानों के बीच पैठ बनाने में नाकाम रही है, वहीं पिछड़े वर्गों के बीच कांग्रेस का प्रभाव काफ़ी सीमित रहा है। अधिकांश पिछड़े मत विविध राज्य स्तरीय दलों के खाते में गये हैं।

दूसरा, संघीय स्तर पर कांग्रेस और भाजपा के नेतृत्व में दो बड़े गठबंधन होने के बावजूद राज्य स्तर के चुनावी परिदृश्य में बहु-दलीय प्रतियोगिता का अस्तित्व बना रहा। तथाकथित क्षेत्रीय दलों के मत प्रतिशत तक़रीबन स्थायी बने रहे, लेकिन केंद्र सरकार के निर्माण में उनका प्रभाव काफ़ी सीमित रहा। इस प्रकार, दो-ध्रुवीय दलीय व्यवस्था के विस्तार की प्रवृत्ति पर छोटे राज्य स्तरीय दलों और बसपा जैसी अर्द्ध-राष्ट्रीय दल के उभार (जिसने दोनों में किसी भी गठजोड़ के साथ जुड़ाव क़ायम नहीं किया) ने रोक लगायी। इसी कारण, तृणमूल कांग्रेस (तृकां), जनता दल (एकी), प्रजा राज्यम पार्टी (प्ररापा), तेलंगाना राष्ट्र समिति (तेरास), झारखण्ड विकास मंच (झाविमं) जैसे दल चुनावी प्रतियोगिता में शामिल हुए। यदि हम वोट के संदर्भ में राज्य स्तर पर दलों की प्रभावकारी संख्या पर ध्यान दें तो यह बात सामने आती है कि अस्सी के दशक के मध्य से 2009-12 तक दलों की कुल संख्या में वृद्धि हुई है। इसके बावजूद प्रतियोगिता की संरचना में ज़्यादा बदलाव नहीं हुआ है।[22]

तीसरा, 'उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था' के दूसरे चरण में चुनावी उतार-चढ़ाव की मात्रा में गिरावट आयी। यह बात राज्य स्तर से ज़्यादा केंद्र के स्तर पर सामने आती है।[23]

---

[20] वही : 5-6.

[21] यहाँ यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि प्रदीप छिब्बर ने 2009 के चुनाव नतीजों के संदर्भ में विचार करते हुए लिखा कि इन नतीजों को केवल राज्य स्तरीय नतीजों का कुल योग मानने की प्रवृत्ति सही नहीं मानी जा सकती है. उन्होंने ज़ोरदार तरीक़े से यह तर्क दिया कि इन चुनावों में राष्ट्रीय स्तर के मसलों ने भी मतदाताओं को प्रभावित किया तथा सामाजिक विभाजन सिर्फ़ राज्य केंद्रित ही नहीं थे, बल्कि संप्रग को इन चुनावों में राष्ट्रीय पहलू शामिल होने का भी फ़ायदा मिला. देखें, छिब्बर (2009). हालाँकि यादव और पलशीकर का मानना है कि छिब्बर का तर्क उनके इस तर्क के अनुरूप ही है कि 'राज्य स्तरीय राजनीति राष्ट्रीय नतीजों को पूर्व-निर्धारित नहीं करती है, लेकिन वह उन्हें एक आकार देने और निथारने का काम ज़रूर करती है'. देखें, योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2009): 393-429; (2014) : 66.

[22] वही : 6.

[23] वही : 6

चौथा, अब तक की उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था में दलों के बीच 'बढ़ती विचारधारात्मक समाभिरूपता' (कंवर्जेंस) एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। विशेष रूप से आर्थिक नीति और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर यह समाभिरूपता देखी जा सकती है। मिसाल के तौर पर, अब अधिकांश राष्ट्रीय दल उदारीकरण और निजी पूँजी निवेश को विकास का आधार मानने लगे हैं। कांग्रेस और भाजपा के बीच ख़ुद को उदारीकरण और निजीकरण का सबसे बड़ा हिमायती दिखाने की होड़ तो रही ही है, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के नेतृत्व वाले पश्चिम बंगाल के वाम मोर्चे की सरकार ने भी इसी सिलसिले में सिंगूर और नंदीग्राम जैसे स्थानों पर काफ़ी सख़्त रवैया अपनाया। हालाँकि इसका ख़मियाजा उसे 2009 के संसदीय चुनावों और 2011 के राज्य विधानसभा चुनावों में भुगतना पड़ा।[24] इसी प्रकार, हर दल ने सामाजिक न्याय के मुद्दे को अपने राजनीतिक एजेण्डे का हिस्सा बना लिया है और नब्बे के दशक के बाद हर दल ख़ुद को सामाजिक न्याय का समर्थक घोषित करने की होड़ में शामिल है।

पाँचवाँ, सामाजिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में विभिन्न समूहों में राजनीतिक दलों की पैठ के बारे में कुछ विशिष्टताएँ पहले की भाँति ही रही हैं। जहाँ भारतीय जनता पार्टी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और मुसलमानों के बीच पैठ बनाने में नाकाम रही है, वहीं पिछड़े वर्गों के बीच कांग्रेस का प्रभाव काफ़ी सीमित रहा है। अधिकांश पिछड़े मत विभिन्न राज्य स्तरीय दलों के खाते में गये हैं।[25]

इन स्थायी स्वरूप के बदलावों के अलावा सम्पादक-त्रयी कुछ छोटे बदलावों की ओर भी इशारा करते हैं : पहला, धीरे-धीरे राज्य विधानसभा चुनावों में मतदान प्रतिशत में बढ़ोतरी होना। लेकिन इसका एक सीमित महत्त्व ही है क्योंकि प्रचार की भागीदारी में इस तरह की बढ़ोतरी नहीं हुई है।[26] दूसरा, 1990 के दशक में सत्ता विरोधी रुझान एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण चुनावी कारक के रूप में मौजूद था। 2000 के बाद भी कई राज्यों में सत्ता परिवर्तन हुआ, लेकिन ऐसे राज्यों की संख्या में बढ़ोतरी हुई जहाँ सरकारें दुबारा चुनकर सत्ता में आयीं : (2007 से 2012 के बीच असम, दिल्ली, बिहार, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, ओडिशा, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़)।[27] तीसरा, अब केवल अस्मिताएँ ही मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं रहीं। मतदाताओं ने अब विकल्पों के चुनावों में सुशासन के मुद्दों को भी अधिकाधिक महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया है। इनका यह तर्क है कि मतदाता जाति और विकास दोनों पर ध्यान देने लगे हैं। चौथा, अब किसी भी राष्ट्रीय या अखिल भारतीय नेतृत्व इस स्थिति में नहीं है कि वह मतदाताओं को पूरी तरह अपने बूते पर प्रभावित करके चुनाव जीत सके। लेकिन फिर भी नेतृत्व एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है और राज्य स्तर पर ऐसे नेता मौजूद हैं जो मतदाताओं के मत देने के फ़ैसले को प्रभावित करते हैं। इस संदर्भ में ये लेखक करुणानिधि और जयललिता (तमिलनाडु), वाईएसआर (आंध्र प्रदेश), मायावती और मुलायम सिंह (उत्तर प्रदेश), शीला दीक्षित (दिल्ली), प्रकाश सिंह बादल (पंजाब) और नरेंद्र मोदी (गुजरात) का उदाहरण देते हैं। इस तरह, चुनाव नेतृत्व और सुशासन से जुड़े हुए हैं।[28]

---

[24] पश्चिम बंगाल के चुनावी राजनीति की समझ के लिए देखें, ज्योतिप्रसाद चटर्जी और सुप्रियो बसु (2014) : 284-308.

[25] सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2014) : 6.

[26] वही : 15. इन पहलुओं की विस्तार से समझ के लिए देखें, सुहास पलशीकर और संजय कुमार (2004).

[27] बिहार के चुनावी अध्ययन से संबंधित अध्याय में एक सारणी दी गयी है, जिसमें 2007 से 2010 के बीच विधानसभा चुनावों का सामना करने वाले राज्यों में राज्य सरकार के प्रति संतुष्टि के स्तर को दर्शाया गया है. इससे यह बात सामने आती है कि बिहार में 2010 में 78 प्रतिशत लोग राज्य सरकार के काम से खुश थे। इसी तरह, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, दिल्ली, महाराष्ट्र और त्रिपुरा में इस अवधि में जब विधानसभा चुनाव हुए तो राज्य सरकार के काम-काज से ख़ुश लोगों की संख्या काफ़ी ज़्यादा थी. देखें, संजय कुमार और राकेश रंजन, (2014) : 271.

[28] सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2014) : 16.

उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के संदर्भ में ही 1989 के बाद की दलीय व्यवस्था की एक विशिष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। निश्चित रूप से इसने दलीय प्रतियोगिता के दायरे को और खोला है। कांग्रेस के क्षरण के कारण केंद्र में तो कांग्रेस का प्रभाव कम हुआ ही, इसके वर्चस्व वाले कई अन्य राज्यों में भी नये राजनीतिक खिलाड़ी पूरे दमख़म से सामने आये। इससे राजनीतिक प्रतियोगिता की बहुदलीय संरचना के वास्तविक और प्रभावकारी स्वरूप को बढ़ावा मिला है, कई छोटे-बड़े राजनीतिक दलों का उभार हुआ है तथा राष्ट्रीय और राज्य स्तरों पर दलीय प्रतियोगिता के बीच अंतर पैदा हुआ है।[29] लेकिन उत्तर-कांग्रेस व्यवस्था के पहले और दूसरे— दोनों ही चरणों में केंद्र स्तर की राजनीति में कुशल राजनीतिक गठबंधन के सहारे सरकार बनाकर या फिर किसी गठबंधन को समर्थन देकर भाजपा और कांग्रेस ने राजनीतिक पटल पर अपनी प्रभावकारी उपस्थिति क़ायम रखी। यह कहना ज़्यादा सही होगा कि दूसरे चरण में गठबंधन-व्यवस्था ने एक स्थिर स्वरूप धारण किया, जिससे अधिकांश राज्य स्तरीय दल भाजपा या कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन से जुड़ने लगें।

ऐसे में यह सवाल सामने आता है कि छोटे राजनीतिक दलों की क्या भूमिका रह गयी है? चुनावी राजनीति के विश्लेषणों में हमेशा ही दहलीज़ (थ्रेशहोल्ड्स) की बात होती है— अर्थात् वे सीमाएँ जिन्हें पार कर एक नया खिलाड़ी (या छोटा दल) ख़ुद को प्रतियोगी राजनीति में राजनीतिक रूप से प्रासंगिक बनाए रख सकता है। पलशीकर, सूरी और यादव का यह तर्क है कि भारतीय चुनावी व्यवस्था की सीमाएँ छोटे राजनीतिक दलों के प्रासंगिक बने रहने की क्षमता और सम्भावना को प्रभावित करती है। यह सच है कि कई बार एक सदस्य के कारण कई सरकारें गिरी भी हैं, लेकिन अमूमन सरकारों के निर्माण और उनकी निरंतरता में बड़ी पार्टियों की ही भूमिका रही है। दरअसल यह हमारी दलीय राजनीतिक प्रतियोगिता की बुनियादी विषमता का परिणाम है। इस संदर्भ में वे सार्टोरी के प्रासंगिक दल की अवधारणा की मदद लेते हैं, जिसके मुताबिक़ प्रासंगिक दल वह होता है जो गठजोड़ की क्षमता या ब्लैकमेल की क्षमता के कारण गठबंधन की सम्भावना को प्रभावित करने की स्थिति में होता है।[30] यदि हम इस परिभाषा को स्वीकार करें तो भी ऐसा लगता है कि अखिल भारतीय स्तर की राजनीति पर छोटे दलों की भूमिका बहुत कम या अधिक से अधिक संयोग पर आधारित ही है। पलशीकर, सूरी और यादव यह दिखाते हैं कि भारत में दो प्रमुख दलों का राजनीतिक स्पेस के आधे भाग पर ही क़ब्ज़ा है, और बाक़ी आधे भाग में 35 से ज़्यादा दल आपस में होड़ कर रहे हैं। अकसर मीडिया इनकी भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करता है लेकिन हक़ीक़त यह है कि वोट, सीट और पैंतरेबाज़ी के संदर्भ में इनके लिए बहुत कम गुंजाइश रहती है।[31]

हालाँकि पलशीकर, सूरी और यादव रेखांकित करते हैं कि जैसे ही हम राज्यों की ओर अपनी नज़र दौड़ाते हैं तो एक अलग तस्वीर सामने आती है। केंद्र की राजनीति में भले ही ये क्षेत्रीय दल निर्णायक भूमिका में नहीं आ पाए हों, लेकिन राज्य की राजनीति में इन्होंने अपनी पकड़ साबित की है और कई दफ़ा राष्ट्रीय दलों को अपने ऊपर निर्भर या प्रभावहीन बना कर रखा है (सपा, बसपा उत्तर प्रदेश में, वाम दल, तृणमूल बंगाल में, राजद, जद (एकी) बिहार में) या चुनावों के वक़्त राष्ट्रीय दलों से नाता तोड़ा है (मसलन बीजद ने ओडिशा में)। इसके आधार पर ये तीनों दावा करते हैं कि दलीय प्रतियोगिता की रूपरेखा भी कमोबेश स्थायी हो गयी है, और यह बहुदलीय तथा गठबंधन राजनीति के 'सामान्य' (या नॉर्मल) होने का आभास देती है। इस सामान्यीकरण या नॉर्मलाइजेशन का अर्थ यह है कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था बहु-दलीय बनी रहेगी और यह गठबंधनों के माध्यम से काम करेगी। ये गठजोड़ स्थायी

[29] वही : 17.

[30] सार्टोरी (1996) : 158-59; पलशीकर, सूरी और यादव (2014) : 19.

[31] वही : 19.

नहीं होंगे, बल्कि आकस्मिक प्रकृति के होंगे जो चुनावी नतीजों को अस्थायी तथा अनिश्चित बना देंगे।[32]

इस संदर्भ में ये तीनों लोग एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम पर बल देते हैं। 1980 के दशक से ही अधिकांश राज्यों में विधानसभा चुनाव लोकसभा चुनावों से अलग समय पर होने लगे। 1990 के दशक में यह प्रवृत्ति और भी ज़्यादा बढ़ी। अब तक़रीबन सभी राज्यों में ये अलग-अलग समय पर होते हैं। इसने राज्य-विशिष्ट राजनीतिक ट्रैजेक्टरी के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए, अब हर राज्य का अपना चुनावी कैलेण्डर और चुनावी रूप से प्रासंगिक मुद्दों और कारकों की अपनी रूपरेखा है। इसके साथ ही 1990 के दशक में अधिकांश राज्यों ने संसदीय चुनावों में राज्य की राजनीति के प्रिज़्म के माध्यम से वोट देना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा कई कारणों से हुआ— लोकप्रिय राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व का प्रभावहीन होना और नतीजतन संसदीय चुनावों के जनमतसंग्रही चरित्र का क्षरण होना; राज्य स्तरीय दलों का उभार, जिससे प्रत्येक राज्य में लोकप्रिय विकल्पों को एक स्वतंत्र संरचना मिली; अधिकांश राज्यों में राष्ट्रीय मुद्दों (मसलन, मंदिर या मण्डल) का अलग-अलग तरीक़े से स्वीकार किया जाना; तथाकथित राष्ट्रीय या अखिल भारतीय दलों का संगठनात्मक विखण्डन या उनके विचारधारात्मक धारा का प्रभावहीन या कमज़ोर होना।[33] बलवीर अरोड़ा ने इन बदलावों को दलीय व्यवस्था के संघीयकरण (फ़ेडरलाइजेशन ऑफ़ पार्टी सिस्टम) की संज्ञा दी है तथा यादव और पलशीकर ने इसे राजनीति के थियेटर के रूप में राज्यों के उदय के तौर पर पेश किया है।[34] हालाँकि इस संदर्भ यह सवाल सामने आता है कि संसदीय चुनावों और राज्य विधानसभा चुनावों में किस प्रकार संबंध होता है। सम्पादक-त्रयी इस बारे सुनिश्चित रूप से कोई दावा नहीं करती, लेकिन उनका मानना है कि यदि विधानसभा चुनाव लोकसभा के ठीक पहले हों, तो वे लोकसभा चुनावों के बारे में एक अंदाज़ा ज़रूर दे देते हैं, इसी तरह उनके बीच यदि एक वर्ष से कम का अंतर हो तो इनके नतीजों के बीच ज़्यादा हेर-फेर की सम्भावना नहीं रहती है। इसी प्रकार, यह कहा जा सकता है कि केंद्र में शासक दल उन राज्यों की विधानसभा चुनावों में बेहतर प्रदर्शन करता है, जहाँ उसके सत्ता में आने के पहले भाग (अर्थात् ढाई साल से पहले) चुनाव होते हैं। लेकिन 2008 के बाद महाराष्ट्र, असम, हरियाणा और केरल के चुनावों से यह बात साफ़ होती है कि सिर्फ़ इस आधार पर इन

भारतीय चुनावी व्यवस्था की सीमाएँ छोटे राजनीतिक दलों के प्रासंगिक बने रहने की क्षमता और सम्भावना को प्रभावित करती हैं। यह सच है कि कई बार एक सदस्य के कारण कई सरकारें गिरी भी हैं, लेकिन अमूमन सरकारों के निर्माण और उनकी निरंतरता में बड़ी पार्टियों की ही भूमिका रही है। दरअसल यह हमारी दलीय राजनीतिक प्रतियोगिता की बुनियादी विषमता का परिणाम है। इस संदर्भ में वे सार्टोरी के प्रासंगिक दल की अवधारणा की मदद लेते हैं, जिसके मुताबिक़ प्रासंगिक दल वह होता है जो गठजोड़ की क्षमता या ब्लैकमेल की क्षमता के कारण गठबंधन की सम्भावना को प्रभावित करने की स्थिति में होता है।

[32] वही : 20-21.
[33] वही : 39.
[34] अरोड़ा (2003); यादव और पलशीकर (2003); (2008).

राज्यों के विधानसभा चुनावों के नतीजों की व्याख्या नहीं की जा सकती है और इसके लिए राज्य स्तर की राजनीतिक गत्यात्मकता पर भी ध्यान देना होगा।[35]

स्पष्टत: उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा के माध्यम से इस किताब में सिर्फ़ 2008 से 2012 के बीच हुए चुनाव अध्ययन में दलीय प्रतियोगिता के होड़ के सैद्धांतीकरण करने और अलग-अलग राज्यों पर केंद्रित अध्यायों के माध्यम से इस अवधारणा से संबंधित पहलुओं की तसदीक़ का प्रयास किया गया है। हालाँकि कई ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर ज़्यादा गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। मसलन, क्या भारतीय उदारतावादी लोकतंत्र की गत्यात्मकता और विविध आयामों की समझ बनाने के लिए चुनाव अध्ययन पर पूरी तरह भरोसा किया जा सकता है? या फिर इस तरह के अध्ययन में सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर होने वाले उथल-पुथल, प्रतिरोध, संवाद आदि के कई ज़रूरी पहलुओं के छूट जाने का ख़तरा होता है? इस संदर्भ में विभिन्न अध्यायों में अपनाई गयी पद्धतियों, उनके तर्कों और उसमें उस राज्य विशेष की राजनीतिक गत्यात्मकता के आयामों के समावेशन जैसे मुद्दों पर आलोचनात्मक नज़र डालने की आवश्यकता है।

आदिवासी बहुल राज्यों के संदर्भ में विचार करते समय छत्तीसगढ़ के अलावा अन्य किसी भी आदिवासी राज्य की राजनीति के विश्लेषण में चुनावी राजनीति को प्रभावित करने वाले एक विशिष्ट कारक के रूप में माओवादियों की भूमिका पर ध्यान नहीं दिया गया है। मसलन, झारखण्ड से संबंधित अध्याय में लेखक स्वीकार करते हैं कि 'झारखण्ड में माओवादी समूहों का काफ़ी प्रभाव है, यह प्रभाव विद्रोह करने की ताक़त और राजनीतिक प्रतियोगिता में हस्तक्षेप करने की उनकी क्षमता, दोनों ही संदर्भों में देखा जा सकता है।' लेकिन इसके बाद इस लेख में कहीं भी इस पहलू का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है।

III

चुनाव-अध्ययन : संकुचित और एक-आयामीय विश्लेषण का ख़तरा

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि चुनावी-अध्ययन लोकतंत्र की जटिलताओं और गत्यात्मकता को समझने का एक विशिष्ट और काफ़ी हद तक अपरिहार्य तरीक़ा भी है। इसके अभाव में हम यह नहीं जान सकते कि असल में मतदान के दौरान मतदाताओं ने किस तरह के मुद्दों के आधार पर मत दिया या मतदाताओं के किस समूह ने किस दल या मुद्दे को ज़्यादा तरज़ीह दी। इसके आधार पर लोकतांत्रिक राजनीति की दीर्घकालिक और अल्पकालिक प्रवृत्तियों को रेखांकित करने में भी सहायता मिलती है। लेकिन भारत में चुनाव-अध्ययन की उलझनों को अभिव्यक्त करते हुए सुहास पलशीकर ने यह लिखा है 'चुनाव-अध्ययन के अध्ययन की विधि के बारे में अभी तक कोई आम राय नहीं बन पाई है। साथ ही, यह भी तय नहीं हो पाया है कि जब हम चुनाव अध्ययन करते हैं, तो दरअसल, ठीक-ठीक करना क्या चाहते हैं।'[36] कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि उदारतावादी लोकतंत्र की संरचना, उसमें होने वाले संसदीय चुनाव, दलों की उठा-पटक, उनके बीच बनने वाला गठजोड़ इत्यादि तथा ज़मीनी स्तर पर चलने वाले प्रतिरोध आंदोलन, उदारवादी लोकतंत्र के ढाँचे को चुनौती

[35] देखें, पलशीकर, सूरी और यादव (2014) : 25-6; 36; साथ ही देखें, इस किताब में महाराष्ट्र, असम, हरियाणा और केरल से संबंधित अध्याय.

[36] सुहास पलशीकर (2014) : 67; सतीश देशपांडे सेफ़ोलॉजी (चुनाव अध्ययन) को एक सीमित अध्ययन मानते हुए इस बात पर बल

देने के हर तरह के प्रयास, राज्य का दमनकारी स्वरूप आदि दो अलग-अलग तरह की दुनिया हैं और इनके बीच में किसी तरह का जुड़ाव नहीं है और दूसरे समूह के कारकों का पहले समूह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रस्तुत किताब के विभिन्न अध्यायों में इस तरह के भ्रम या उलझने नज़र आती हैं :

पहला, कई अध्यायों में पूरी तरह आँकड़ों की कलाबाज़ी पर ही ध्यान दिया गया है और इस संदर्भ में कई अन्य ज़रूरी पहलू पीछे छूट गये हैं। मसलन, प्रस्तुत किताब में आदिवासी बहुल राज्यों की चुनावी राजनीति के संदर्भ में विचार करते समय छत्तीसगढ़ के अलावा अन्य किसी भी आदिवासी राज्य की राजनीति के विश्लेषण में चुनावी राजनीति को प्रभावित करने वाले एक विशिष्ट कारक के रूप में माओवादियों की भूमिका पर ध्यान नहीं दिया गया है। मसलन, झारखण्ड से संबंधित अध्याय में लेखक-द्वय हरीश्वर दयाल और बी.के. सिन्हा स्वीकार करते हैं कि 'झारखण्ड में माओवादी समूहों का काफ़ी प्रभाव है, यह प्रभाव उनकी विद्रोह करने की ताक़त और राजनीतिक प्रतियोगिता में हस्तक्षेप करने की क्षमता, दोनों ही संदर्भों में देखा जा सकता है।'[37] लेकिन इसके बाद इस लेख में कहीं भी इस पहलू का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है। इसी तरह, पश्चिम बंगाल से संबंधित अध्याय में 2009 और 2011 में वाम मोर्चे की हार के कारणों, तृणमूल कांग्रेस की रणनीतियों, सिंगूर-नंदीग्राम जैसी घटनाओं और नागरिक समाज के संगठनों की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। लेकिन संसदीय राजनीति से अलग माओवादी समूहों के प्रभाव और संसदीय राजनीति के समूहों से उनकी अंत:क्रिया के गत्यात्मक आयामों की पड़ताल करने की कोई कोशिश नहीं की गयी है।[38] आंध्र प्रदेश, ओडिशा और महाराष्ट्र के कई ज़िलों में माओवादी की ज़बरदस्त पकड़ रही है। लेकिन आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र से संबंधित अध्यायों में संसदीय राजनीति पर इनके प्रभाव का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है।[39] रोचक बात यह है कि इस पुस्तक में ओडिशा की राजनीति के विश्लेषण से संबंधित कोई अध्याय नहीं है।

दूसरा, छत्तीसगढ़ के विश्लेषण में भी बहुत ही सरलीकृत तरीक़े से माओवादी प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। मसलन, अनुपमा सक्सेना और प्रवीण राय ने छत्तीसगढ़ की चुनावी राजनीति का विश्लेषण करते हुए राज्य में माओवादी हिंसा, सलवा जुडूम और माओवादियों द्वारा चुनावों के बहिष्कार का उल्लेख किया है। लेकिन इनका मुख्य तर्क यही है कि ऐसा नहीं लगता कि इन सभी पहलुओं का राज्य की चुनावी राजनीति पर कोई ख़ास गहरा प्रभाव पड़ा क्योंकि नक्सल प्रभावित इलाक़ों में भी मतदान प्रतिशत ठीक रहा।[40] लेकिन कई बार माओवादियों के चुनावी राजनीति पर प्रभाव की पूरी तस्वीर तैयार करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उनके प्रभाव वाले इलाक़ों में ज़्यादा गहराई से विश्लेषण किया जाए और उसमें अन्य प्रासंगिक पहलुओं पर भी ग़ौर किया जाए। मसलन, नंदिनी सुंदर ने 2008 के विधानसभा चुनावों के बाद *द हिंदू* में 'नॉन स्टेट एक्टर ऐंड द रूल ऑफ़ लॉ' शीर्षक से लिखे अपने लेख में यह दिखाया है कि सलवा जुडूम से प्रभावित तीन ज़िलों में— कोंटा, बीजापुर और दंतेवाड़ा— जुडूम से प्रभावित लोग मतदान नहीं कर पाए। बीजापुर में 70 प्रतिशत और कोंटा में 60 प्रतिशत ऐसे लोग मतदान नहीं कर पाए। इन दोनों ही निर्वाचन क्षेत्रों में पुनर्वास कैम्पों में रहने वाले एसपीओ और उनके परिवार वालों ने भाजपा को मतदान किया। इसी तरह, जहाँ 2008 के विधानसभा

देते हैं कि 'यदि हम सेफ़ोलॉजी और चुनाव अध्ययन में अंतर करें तो सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही सामने आती है कि सेफ़ोलॉजी के लिए चुनावी नतीजे सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, जबकि किसी समाज-विज्ञान के लिए यह अध्ययन का एक आयाम मात्र है.' देखें, सतीश देशपांडे (2014).

[37] हरीश्वर दयाल और बी. के. सक्सेना (2014) : 282.

[38] ज्योतिप्रसाद चटर्जी और सुप्रियो बसु (2014) : 284–307.

[39] देखें, के.सी. सूरी, पी. नरसिम्हा राव और वी. अंजी रेड्डी (2014): 481–496; सुहास पलशीकर, राजेश्वरी देशपांडे और नितिन बिरमल (2014) : 431–450.

[40] अनुपमा सक्सेना और प्रवीण राय (2014) : 417, 421, 428–28; यह भी ग़ौरतलब है कि इस अध्याय में मुख्य रूप से 2009 के

चुनावों में छत्तीसगढ़ में कुल मतदान प्रतिशत 70.53 प्रतिशत था, वहीं दंतेवाड़ा में यह केवल 55 प्रतिशत ही रहा, और इसमें भी शहरी क्षेत्रों में हुए मतदान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके लिए वे माओवादियों द्वारा किये गये चुनाव बहिष्कार और लाखों लोगों के अपने घरों को छोड़कर चले जाने जैसे कारकों को ज़िम्मेदार मानती हैं।[41]

तीसरा, चुनाव-अध्ययन से जुड़े अधिकांश अध्यायों की कमी यह भी है कि ये अकसर चुनावों में सर्वे के दौरान तैयार प्रश्नों के संदर्भ में मिले प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित हैं। इसमें भी मुख्य रूप से दलों को वरीयता, नेताओं के बारे में राय आदि जैसे पहलुओं पर ही ग़ौर किया जाता है। हालाँकि कई अध्यायों में इन चुनावों में प्रमुख मुद्दे क्या रहे, इसके बारे में भी आँकड़े दिये गये हैं। लेकिन इससे यह बात सामने नहीं आ पाती कि क्या दलों के बीच मुद्दों के स्तर पर कोई मत विभिन्नता थी? मसलन, झारखण्ड के संदर्भ में लेखकों ने भ्रष्टाचार को प्रमुख चुनावी मुद्दे के रूप में रेखांकित किया है, लेकिन इस अध्याय को पढ़ने से यह बात सामने नहीं आती कि क्या कॉरपोरेट कम्पनियों के साथ समझौता-पत्रों पर दस्तख़त करना भी कोई मुद्दा बन पाया? या मतदाताओं के बीच इन मुद्दों पर कितनी गहरी समझ थी? या फिर किसी दल ने इसे चुनावों में ज़ोरदार मुद्दा बनाने का प्रयास किया? यही बात अन्य राज्यों के संदर्भ में कही जा सकती है। मेरा तर्क यह है कि विभिन्न दलों के चुनाव घोषणा-पत्रों और अन्य स्रोतों के माध्यम से चुनावों की पृष्ठभूमि को ज़्यादा गहराई से समझा जा सकता है और इससे चुनावी अध्ययन की एक पूर्ण तस्वीर सामने आ सकती है।[42]

चौथा, इस पुस्तक में प्रस्तुत चुनाव-अध्ययन की एक प्रमुख सीमा यह है कि इसमें कई राज्यों में स्त्रियों की मतदान प्रवृत्ति का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। यह एक बहुत ही मौज़ूँ सवाल है कि क्या लोकतांत्रिक राजनीति में स्त्रियों की चिंताएँ, उन्हें आकर्षित और प्रेरित करने वाले मुद्दे और वरीयताएँ पुरुष मतदाताओं से अलग होती हैं? दरअसल, चुनावी राजनीति की पूरी तस्वीर तैयार करने के लिए आवश्यक है कि आधी आबादी की लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों का गहराई से अध्ययन किया जाए। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे कई अध्याय हैं, जिनमें इस पहलू की पूरी तरह उपेक्षा की गयी है। मसलन गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, नगालैण्ड, असम, झारखण्ड, गोवा, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और केरल से संबंधित अध्यायों में स्त्रियों के मतदान व्यवहार का कोई उल्लेख नहीं है। हरियाणा से संबंधित अध्याय में केवल हुड्डा सरकार के बारे में अलग से स्त्रियों के नज़रिये को प्रतिशत मत में दर्शाया गया है। इसी तरह, उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र के चुनावी अध्ययन वाले अध्यायों में जेण्डर के आधार पर मतदान व्यवहार को दर्शाया गया है, लेकिन इस संदर्भ में स्त्रियों को प्रभावित करने वाले मसलों या उनकी वरीयताओं का विस्तृत विश्लेषण नहीं किया गया है। हालाँकि पश्चिम बंगाल वाले अध्याय में स्त्रियों के मतदान व्यवहार का विस्तार से वर्णन किया गया है और यह रेखांकित किया गया है कि स्त्रियों के ख़िलाफ़ बढ़ते अत्याचार के कारण ही वे वाम मोर्चे से दूर हो गयीं।[43] इसी प्रकार, मध्य प्रदेश के संदर्भ में भी स्त्रियों के मतदान व्यवहार का वर्णन करते हुए यह इंगित किया गया है कि भाजपा के नेतृत्व वाले राज्य सरकार के महिला पक्षधर छवि के कारण महिला मतदाताओं ने भाजपा

लोकसभा चुनावों पर ही ध्यान केंद्रित किया गया है तथा 2008 के राज्य विधान चुनावों का विश्लेषण नहीं किया गया है, जो किताब की प्रस्तावना में एक निश्चित अवधि के बीच के चुनावों के अध्ययन के लक्ष्य से असंगत है.

[41] नंदिनी सुंदर (2008).

[42] निश्चित रूप से इस पुस्तक में भी कई ऐसे अध्याय हैं जिनमें इन मुद्दों के बारे में अन्य स्रोतों की मदद से एक तस्वीर तैयार करने का प्रयास किया गया है. इस संदर्भ में विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, पंजाब, जम्मू और कश्मीर और काफ़ी हद तक आंध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र से संबंधित अध्यायों का उल्लेख किया जा सकता है.

[43] ज्योतिप्रसाद चटर्जी और सुप्रियो बोस (2014) : 293-96.

को वरीयता दी।[44] इसके अलावा, मेघालय, उत्तराखण्ड, महाराष्ट्र के अध्यायों में जेण्डर के आधार पर मतदान व्यवहार का वर्णन है, लेकिन इसके पीछे काम करने वाले संदर्भों या मुद्दों की तफ़्तीश नहीं की गयी है।

पाँचवाँ, यह भी ग़ौरतलब है कि हिमाचल प्रदेश और कर्नाटक से संबंधित अध्यायों में उम्र के हिसाब से (अर्थात् युवा-बुज़ुर्ग) मतदाताओं की मतदान प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अलग-अलग उम्र के मतदाताओं की वरीयताओं और राजनीतिक रुझान को समझने का एक बेहतर तरीक़ा है, लेकिन अन्य राज्यों से संबंधित अध्यायों में इस पहलू की उपेक्षा की गयी है। सिर्फ़ हिमाचल प्रदेश और कर्नाटक में ही मतदाताओं को उम्र के हिसाब से विभाजित कर उनके मतदान रुझान का अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार, कुछ अध्यायों में मतदाताओं को उनकी शिक्षा के स्तर पर बाँटकर उनके मतदान रुझान संबंधी आँकड़े दिये गये हैं, हालाँकि इस संदर्भ में कोई गहन विश्लेषण नहीं किया गया है। फिर भी यह मतदाताओं के मतदान की प्रवृत्तियों की समझ के लिए एक अलग आयाम का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन केवल हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ से संबंधित अध्यायों में ही इस पद्धति का उपयोग किया गया है।

> **झारखण्ड के संदर्भ में लेखकों ने भ्रष्टाचार को प्रमुख चुनावी मुद्दे के रूप में रेखांकित किया है, लेकिन इस अध्याय को पढ़ने से यह बात सामने नहीं आती कि क्या कॉरपोरेट कम्पनियों के साथ समझौता-पत्रों पर दस्तख़त करना भी कोई मुद्दा बन पाया? या मतदाताओं के बीच इन मुद्दों पर कितनी गहरी समझ थी? या फिर किसी दल ने इसे चुनावों में ज़ोरदार मुद्दा बनाने का प्रयास किया? यही बात अन्य राज्यों के संदर्भ में भी कही जा सकती है।**

छठा, इसी प्रकार विभिन्न अध्यायों में मतदाताओं को अमीर-ग़रीब, ग्रामीण-शहरी (या फिर दोनों) आधारों पर विभाजित कर उनके मतदान व्यवहार का अध्ययन किया गया है। इस संदर्भ में गुजरात (इसमें धनी, मध्य, निम्न और ग़रीब वर्ग के लोगों की मतदान प्रवृत्ति का अध्ययन है; इसके अलावा, इस बात का भी विश्लेषण किया गया है कि किन मुद्दों को प्रमुखता मिली और मतदाताओं ने किस दल को वरीयता दी); पंजाब (ग्रामीण और शहरी आधार पर भी विश्लेषण किया गया है); हरियाणा (वर्ग आधार पर नहीं, लेकिन ग्रामीण और शहरी आधार पर वर्गीकरण किया गया है); पश्चिम बंगाल (इसमें किसान, श्रमिक-प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित- शहरी-ग्रामीण, प्रोफ़ेशनल-वेतन पाने वाले वर्ग आदि के आधार पर मतदान व्यवहार का परीक्षण किया गया है); इसके अतिरिक्त, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड और महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और केरल अमीर ग़रीब या शहर और ग्रामीण क्षेत्र या दोनों के ही आधार पर विश्लेषण है। किंतु कई राज्यों के अध्ययनों में इस आयाम की पूरी तरह उपेक्षा की गयी है। मसलन, राजस्थान, जम्मू और कश्मीर, उत्तराखण्ड, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, नगालैण्ड, मेघालय, असम, गोवा, कर्नाटक आदि के बारे में इस तरह से अध्ययन नहीं किया गया है। इसी प्रकार, जहाँ अधिकांश राज्यों को विविध क्षेत्रों में बाँट कर चुनावी गत्यात्मकता का अध्ययन किया गया है, वहीं गुजरात, दिल्ली, पश्चिम बंगाल, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय

[44] यतींद्र सिंह सिसोदिया (2014) : 411.

और केरल जैसे राज्यों के अध्ययन में इस पहलू पर ग़ौर नहीं किया गया है। स्पष्टत: अलग-अलग राज्यों के अध्ययन में विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर ध्यान दिया गया है और कहीं भी यह रेखांकित करने का प्रयास नहीं किया गया है कि किसी एक राज्य के संदर्भ में किसी विशिष्ट पहलू पर ग़ौर करने और अन्य पहलुओं की उपेक्षा करने का क्या कारण है।

सातवाँ, ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि इस पुस्तक में ओडिशा की राजनीति पर कोई अध्याय नहीं है। लेकिन इसके साथ ही, उत्तर-पूर्व के कई राज्यों की भी पूरी तरह उपेक्षा की गयी है। मसलन, त्रिपुरा और मणिपुर के बारे में भी इस किताब में कोई अध्याय नहीं है। इसी प्रकार, इस पुस्तक में दक्षिण के एक प्रमुख राज्य तमिलनाडु का अध्ययन शामिल नहीं किया गया है। हालाँकि नगालैण्ड, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय और असम से संबंधित अध्यायों में स्थानीय कारकों और प्रासंगिक मुद्दों का अध्ययन किया गया है। विशेष रूप से, नगालैण्ड के संदर्भ में दलों के घोषणा-पत्र के साथ-ही-साथ चुनाव का बहिष्कार करने वाले बागी समूहों के संदर्भ में मतदाताओं की राय से संबद्ध आँकड़ों का भी उल्लेख है।[45] असम की चुनावी राजनीति का विश्लेषण करने वाले अध्याय में राज्य के विभिन्न दलों के सामाजिक आधार और चुनावी गत्यात्मकता के विविध पहलुओं का विश्लेषण किया गया है, लेकिन बोडोलैण्ड के लिए संघर्षशील समूहों या उल्फ़ा जैसे चुनावी राजनीति से बाहर रहने वाले संगठनों के प्रभावों का विश्लेषण नहीं किया गया है।[46]

आठवाँ, चुनाव-अध्ययन की एक बड़ी सीमा यह है कि इसमें विविध श्रेणियों को समरूप मानते हुए उनके मुद्दों, रुझानों और वरीयताओं का अध्ययन किया जाता है। मसलन, अधिकांश अध्यायों में मुसलमानों के मतदान व्यवहार के बारे में उन्हें एक समरूप श्रेणी मानते हुए विचार किया गया है। हक़ीक़त यह है कि सामाजिक आधार पर मुसलमान भी विभिन्न तबक़ों में बँटे हैं और मोटे तौर पर अशराफ़ और अजलाफ़ मुसलमानों के जीवन-स्तर और इसी के अनुरूप विविध मुद्दों पर उनके राजनीतिक रुझान में अंतर पाया जाता है। सिर्फ़ मुसलमानों के संदर्भ में ही इस तरह से कई विविध श्रेणियों के आधार पर अधिक सूक्ष्म और बेहतर विश्लेषण करने की गुंजाइश है। लेकिन अधिकांश अध्यायों, यहाँ तक कि बिहार और उत्तर प्रदेश के अध्यायों में भी इस पर ग़ौर नहीं किया गया है; हालाँकि उत्तर प्रदेश में दलित मतदाताओं के मतदान व्यवहार के अध्ययन में जाटव और अन्य दलितों के आधार पर विधानसभा में उनके प्रतिनिधित्व का विश्लेषण किया गया है।[47] कुछ अध्यायों में ऐसा प्रयास भी किया गया है, जैसे असम से संबंधित अध्याय में मुसलमानों को एक श्रेणी मानने के बजाय उन्हें असमी मुसलमान और बंगाली मुसलमान

मुसलमानों के मतदान व्यवहार के बारे में उन्हें एक समरूप श्रेणी मानते हुए विचार किया गया है। हक़ीक़त यह है कि सामाजिक आधार पर मुसलमान भी विभिन्न तबक़ों में बँटे हैं और मोटे तौर पर अशराफ़ और अजलाफ़ मुसलमानों के जीवन-स्तर और इसी के अनुरूप विविध मुद्दों पर उनके राजनीतिक रुझान में अंतर पाया जाता है। सिर्फ़ मुसलमानों के संदर्भ में ही इस तरह से कई विविध श्रेणियों के आधार पर अधिक सूक्ष्म और बेहतर विश्लेषण करने की गुंजाइश है।

---

[45] अम्गोला एन. जमीर (2014) : 335-346.

[46] संध्या गोस्वामी (2014) : 363-380.

[47] मिर्ज़ा असमेर बेग, सुधीर कुमार, ए. के. वर्मा (2014) : 250

तथा हिंदुओं को असमी हिंदू और बंगाली हिंदू की उप-श्रेणी में बाँटकर उनके मतदान व्यवहार का परीक्षण किया गया है।[48] दरअसल, इस तरह से विविध समूहों, उप-समूहों के अध्ययन की आवश्यकता आदिवासी, दलित और पिछड़ी जातियों के संदर्भ में भी है, क्योंकि इन्हें समरूप समूहों के तौर पर प्रस्तुत करने से आधी-अधूरी तस्वीर ही सामने आती है। बेशक सामाजिक समूहों में इतनी विविधता है कि इन्हें समेटना और इनसे जुड़े पेचीदा पहलुओं का विश्लेषण करना एक बड़ी अकादमिक चुनौती है।

चुनाव अध्ययन की इन सीमाओं और चुनौतियों के अलावा प्रस्तुत किताब में प्रयुक्त उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा के माध्यम से भारत की दलीय राजनीति के यथार्थ को पूरी तरह अभिव्यक्त करने का लक्ष्य या दावा भी सवालों के घेरे में है। सोलहवीं लोकसभा चुनावों के नतीजों ने इसकी कई मुख्य मान्यताओं को ग़लत साबित कर दिया है।

IV

सोलहवीं लोकसभा के संसदीय चुनावों के नतीजे और उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था का बिखरता शीराज़ा?

सोलहवीं लोकसभा के लिए 2014 में हुए चुनावों के नतीजे कई मायनों में ऐतिहासिक थे। इन चुनावों में 1984 के बाद पहली बार किसी दल को सम्पूर्ण बहुमत मिला। भारतीय जनता पार्टी को इन चुनावों में ज़बरदस्त जीत हासिल हुई और उसे लोकसभा में कुल 282 सीटें मिलीं। कांग्रेस को इन चुनावों में क़रारी हार का सामना करना पड़ा और उसे अपने चुनावी इतिहास का सबसे ख़राब प्रदर्शन किया और उसे लोकसभा में केवल 44 सीटों पर ही जीत मिली। इन लोकसभा चुनावों के नतीजे उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणात्मक संरचना के लिए भी गहन चुनौती प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि भाजपा ने यह चुनाव नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित करके लड़ा था। इस पूरे चुनाव में मोदी और उनके द्वारा दिये गये विकास के नारे का काफ़ी गहरा असर पड़ा और भाजपा को कई राज्यों में कांग्रेस और क्षेत्रीय दलों की क़ीमत पर जीत हासिल हुई है। ऐसे में कुछ सवाल सामने आते हैं— पहला, चूँकि ये चुनाव काफ़ी हद तक राष्ट्रीय स्तर पर एक नेता (नरेंद्र मोदी) के व्यक्तित्व के आस-पास केंद्रित रहे, तो क्या यह कहना सही होगा कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा या शीराज़ा पूरी तरह बिखर गया है? दूसरा, क्या इन चुनावों के नतीजे के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था कई मसलों पर अतिसरलीकरण का शिकार रही है, जिसके कारण राजनीतिक सामाजिक स्तर पर गहरे रूप से चल रहे कई बदलावों की ठीक तरह से शिनाख़्त नहीं कर पायी (मसलन, साम्प्रदायिक राजनीति की मौजूदगी, राजनीति में कॉरपोरेट पूँजी और मीडिया का बढ़ता प्रभाव)?

इस बात में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि भाजपा और संघ परिवार ने 2014 के लोकसभा चुनावों में नरेंद्र मोदी बनाम राहुल गाँधी का चुनाव बनाने में सफलता हासिल की। जहाँ संघ परिवार, भाजपा और ख़ुद नरेंद्र मोदी ने राहुल गाँधी को वंशवाद का प्रतीक घोषित किया, वहीं कांग्रेस के नेतृत्व वाले संप्रग-दो सरकार में हुए लगातार घोटालों और अन्य नाकामियों ने नरेंद्र मोदी को एक सफल प्रशासक के रूप में प्रस्तुत करने का मौक़ा दिया। उन्होंने अपने तथाकथित 'गुजरात मॉडल' पर काफ़ी बल दिया और ख़ुद को विकास-पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया।[49] असल में, यहाँ यह याद रखने की

---

[48] संध्या गोस्वामी (2014) : 377.

[49] 2014 के लोकसभा चुनावों के नतीजों का विश्लेषण करने वाले अपने लेख में सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी ने भी इन चुनावों में 'प्रेसिडेंशियल टर्न' (अर्थात् अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव की तरह व्यक्तित्वों की जंग) को नतीजों के निर्धारण में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक माना है, जिसने चुनावों को एक नेता के लिए जनमत संग्रह में तब्दील कर दिया. हालाँकि इस संदर्भ में वे अन्य पेचीदा कारकों के गहन विश्लेषण पर भी बल देते हैं. देखें, सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी (2014) : 40.

आवश्यकता है कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की एक प्रमख विशेषता यह मानी गयी है कि राज्य स्तर पर सुशासन या गवर्नेंस एक प्रमुख मुद्दे के रूप में उभरा और विभिन्न राज्यों में कई ऐसे क्षेत्रीय नेता थे (जिसमें नरेंद्र मोदी भी शामिल थे), जिन्होंने ख़ुद को विकास और सुशासन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया था। इस अर्थ में मोदी के उभार को क्षेत्रीय स्तर पर मौजूद विकास की राजनीति के राष्ट्रीय स्तर पर उभरकर आने की परिघटना के रूप में देखा जा सकता है।[50] मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा में ही इस तरह की सम्भावना छिपी हुई है।[51]

दूसरा, यह सच है कि उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यस्था में इस बात पर बल दिया गया है कि इसमें मंदिर और मंडल के मुद्दे नब्बे की तुलना में काफ़ी प्रभावहीन हो गये। लेकिन इसमें साम्प्रदायिक राजनीति की भूमिका के बारे में ज़्यादा गहराई से विचार नहीं किया गया है। यद्यपि 1998 में अपनी सरकार के गठन के समय ही भाजपा ने राम मंदिर, समान नागरिक संहिता और संविधान की धारा 370 के मुद्दों को स्थगित कर दिया था। बाद में, राजग के गठन के वक़्त भी इन मुद्दों को बाहर ही रखा गया। इसने राम मंदिर के मुद्दे को राजनीतिक परिदृश्य से ओझल कर दिया। लेकिन यह मानना बहुत बड़ी भूल होगी कि इसने साम्प्रदायिक मुद्दों को बिल्कुल पीछे कर दिया। 2002 में गुजरात में मुसलमानों के ख़िलाफ़ हुए दंगों के अलावा अन्य मौक़ों पर भी संघ परिवार से जुड़े संगठन ज़मीनी स्तर पर हिंदुत्ववादी राजनीति का प्रचार-प्रसार करते रहे। निश्चित रूप से 2009 में वे भाजपा के पक्ष में बड़ा ध्रुवीकरण नहीं करा पाए, लेकिन इसके कारण साम्प्रदायिक राजनीति के प्रभाव और प्रसार के पहलू को उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा से बाहर रखने को सही नहीं माना जा सकता है। दरअसल, 2014 के चुनावों में संघ परिवार के कई संगठनों ने साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ाने का प्रयास किया। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 2013 में हुए मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के अलावा सिर्फ़ उत्तर प्रदेश में चुनाव के एक वर्ष पहले तक़रीबन सौ छोटे दंगे हुए। इसके अलावा संघ परिवार ने कई स्थानों पर मतदाताओं को भाजपा के पक्ष में गोलबंद करने के लिए काफ़ी मशक़्क़त की। कहने का तात्पर्य यह है पूर्ववर्ती विश्लेषणों और उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा में इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया

---

[50] इस पुस्तक में गुजरात से संबंधित अध्याय में घनश्याम शाह और महाश्वेता जानी ने यह दिखाया है कि मोदी ने 2009 के चुनावों से ही ख़ुद को विकास पुरुष के रूप में केंद्र में रखते हुए प्रचार करने का तरीक़ा अख़्तियार कर लिया था. देखें, घनश्याम शाह और महाश्वेता जानी (2009); दरअसल, लोकनीति के अध्ययन से भी यह बात सामने आती है कि असल में मोदी के प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित होने बाद भाजपा के लिए समर्थन काफ़ी बढ़ा. देखें, राहुल वर्मा (2014); इस संदर्भ में 2014 के चुनावों के बाद प्रकाशित राज्य केंद्रित चुनाव अध्ययनों में भी मोदी प्रभाव की भूमिका को स्वीकार किया गया है. यह ज़रूर है कि कई स्थानों पर यह भूमिका ज़्यादा रही और कई जगह तुलनात्मक रूप से कम और जहाँ भाजपा का कोई सांगठनिक आधार नहीं है, वहाँ इसकी भूमिका नगण्य रही है. इस संदर्भ में पंजाब युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित जर्नल *सोशल साइंसेज़* के विशेष अंक को देखा जा सकता है. देखें, *सोशल साइंसेज़* (2014).

[51] हालाँकि सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी सोलहवीं लोकसभा नतीजों की व्याख्यात्मक चुनौतियों को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे इसे उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के भीतर ही समेटने का प्रयास करते हैं। इनका मानना है कि चुनावी प्रतियोगिता में महत्त्वपूर्ण माने जाने वाली पार्टियों की संख्या पहले की तरह ही रही, लेकिन नतीजों के बाद व्यवहार में महत्त्वपूर्ण पार्टियों की संख्या में गिरावट आयी. इस तरह, 2014 का चुनाव चुनावी प्रतियोगिता के कुछ आयामों के स्थायित्व का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन राजनीतिक हक़ीक़त के संदर्भ में कुछ दीर्घकालिक प्रवृत्तियों को भी सामने लाता है. इनके अनुसार, इन चुनावों में एक दल से दूसरे दल की ओर समर्थन में काफ़ी बड़ा बदलाव भी हुआ. हालाँकि वे इस बात को रेखांकित करते हैं कि भाजपा को 2009 के चुनावों में 19 प्रतिशत मत मिले थे जो कि 2014 के चुनावों में बढ़कर 31 प्रतिशत हो गये. इसके साथ ही आश्चर्यजनक रूप से इतने मतों के आधार पर उसे कुल 52 प्रतिशत लोकसभा सीटों पर जीत मिली. यह 'फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट' व्यवस्था की ख़ासियत है. लेकिन इससे यह भी पता चलता है कि भाजपा के पास विविध राज्यों में ज़मीनी स्तर पर अपने मत को सीट में तब्दील करने की क्षमता थी. वैसे भौगोलिक रूप से भाजपा सभी राज्यों में जीत दर्ज करने में सफल नहीं रही. लेकिन दक्षिण और पूर्व राज्यों में इसका प्रसार दिखा. ये इस बात पर बल देते हैं कि सोलहवीं लोकसभा का चुनाव उत्तर-कांग्रेस राज्य व्यवस्था का भाग बनी रही, लेकिन यह उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के लॉजिक को और आगे तथा शायद एक अलग दिशा में ले गयी. इस संदर्भ में यह रोचक है कि उत्तर कांग्रेस राज्य व्यवस्था की विशिष्टता की निरंतरता को दर्शाते हुए ये तर्क देते हैं कि भाजपा को तीन कारकों से फ़ायदा हुआ : पहला, संप्रग सरकार के प्रति असंतोष; दूसरा, कांग्रेस शासित राज्य सरकारों के प्रति सापेक्षिक रूप से ज़्यादा असंतोष और भाजपा शासित राज्य सरकारों के प्रति संतोष का उच्चतर स्तर और तीसरा, भाजपा प्रधानमंत्री पद उम्मीदवार के तौर पर मोदी का चुनाव. देखें, सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी (2014) : 40–42.

गया कि साम्प्रदायिक राजनीति काफ़ी सूक्ष्म और गहरे रूप से काम कर रही है। यह अध्ययन केवल प्रत्यक्ष चुनावी प्रभावों के विश्लेषण तक ही सीमित रहा है।

तीसरा, उदारतावादी लोकतंत्र की रूपरेखा में होने वाले चुनावी अध्ययन में मीडिया और कॉरपोरेट पूँजी की भूमिका पर भी गहराई से विचार नहीं किया गया है। बहुत से विद्वान यह मानते हैं कि 2014 के चुनावों ने भारतीय चुनावी लोकतंत्र का बिल्कुल ही बदला हुआ नज़ारा प्रस्तुत किया, जिसमें कॉरपोरेट पूँजी की मदद से मीडिया ने एक बहुत ही अहम कारक की भूमिका निभायी। इस लिहाज़ से अब चुनावी अध्ययन और उससे सामने आने वाली किसी भी रूपरेखा में इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि कौन-सा राजनीतिक खिलाड़ी मीडिया का अपने पक्ष में उपयोग कर पा रहा है या चुनाव में कितना ज़्यादा संसाधन फूँक रहा है।[52]

बहरहाल, सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी द्वारा 2014 के चुनावों की उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था के भीतर व्याख्या के प्रयास के बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि 2014 के चुनावों ने केंद्र की राजनीति में राज्यों की भूमिका में पहले की तुलना में कटौती की है और राष्ट्रीय स्तर पर भी नेताओं के व्यक्तित्व को एक ख़ास कारक में तब्दील कर दिया है। 2014 के चुनावों को अलग-अलग राज्यों के चुनावी नतीजों का कुल योग नहीं कहा जा सकता, बल्कि कम-से-कम उत्तर और पश्चिम भारत में मोदी कारक ने चुनाव नतीजों पर गहरा प्रभाव डाला। इन नये घटनाक्रमों के संदर्भ में उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था की अवधारणा की और भी ज़्यादा आलोचनात्मक परीक्षण और परिष्करण की आवश्यकता है।

V
निष्कर्ष

यह बात अक्सर कही जाती है कि चुनाव-अध्ययन दो तरह के अतिरेक का शिकार रहे हैं, या तो उसमें 'दुरूह सैद्धांतीकरण' पर बल दिया जाता है या फिर अत्यधिक और उबाऊ क़िस्म के आँकड़ों पर। लेकिन समय के साथ भारत में चुनाव-अध्ययन ने एक प्रौढ़ता हासिल की है और इसके माध्यम से भारतीय राजनीति और दलीय प्रतियोगिता को समझने का सिर्फ़ आँकड़ागत आधार ही नहीं मिला है, बल्कि कई महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक अवधारणाएँ भी सामने आयी हैं— 'दूसरी राजनीतिक उथल-पुथल' (सेकेंड डेमॉक्रेटिक अपसर्ज), 'तीसरी चुनावी व्यवस्था' (थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम) और 'उत्तर-कांग्रेस राज्य-व्यवस्था' (पोस्ट-कांग्रेस पॉलिटी) इत्यादि को ऐसी ही अवधारणाओं में शामिल किया जा सकता है। यह भी सच है कि भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता बढ़ने के साथ चुनाव-अध्ययन के आधार पर सैद्धांतिकी निर्माण का काम काफ़ी मुश्किल हो गया है क्योंकि हर चुनाव के बाद नवीन क़िस्म की संरचनाएँ, परिस्थितियाँ और चुनौतियाँ सामने आती हैं। इस लिहाज़ से हर सैद्धांतिक अवधारणा की सीमाएँ भी नज़र आने लगती हैं, लेकिन फिर भी 1989 के बाद की राजनीति के बारे में चुनाव-अध्ययन के भारतीय पुरोधाओं द्वारा प्रस्तुत अवधारणाओं में एक गतिशीलता देखी जा सकती है। यह ज़रूर है कि चुनाव-अध्ययन और विश्लेषण की प्रणाली को परिष्कृत करने और इसे दूसरे अध्ययन स्रोतों से जोड़ने और अतिसरलीकरण से बचने के लिए ज़्यादा जागरूक प्रयास करने की आवश्यकता है।

[52] मसलन, प्रतिमान (जुलाई-दिसम्बर, 2014) में लोकसभा चुनावों से संबंधित संवाद में आदित्य निगम ने साम्प्रदायिक राजनीति, कॉरपोरेट पूँजी और इससे संचालित मीडिया की भूमिका को चुनाव नतीजों के अहम कारक के रूप में रेखांकित किया है. देखें, धीरूभाई शेठ, पीटर रोनॅल्ड डीसूज़ा और आदित्य निगम (2014).

संदर्भ

अनुपमा सक्सेना और प्रवीण राय (2014), 'चीफ़ मिनिस्टर विन्स छत्तीसगढ़ फ़ॉर बीजेपी', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अम्गोला एन. जमीर (2014), 'नगालैण्ड : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स अमिस्ट इनसर्जेंसी', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अरविंद मोहन (सम्पा.) (2009), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार,* खण्ड I और II वाणी प्रकाशन–लोकनीति सीएसडीएस.

अरुण जेटली (2009), ' द टाइम्फ़ ऑफ़ द मॉडरेट', *द इण्डियन एक्सप्रेस,* 27 मई.

अरुण शौरी (2009), 'न्यू बिगनिंग्स', *द इण्डियन एक्सप्रेस,* 15 जून.

आशुतोष वार्ष्णेय (2009), 'इण्डियाज़ रिटर्न ऑफ़ द ग्रैण्ड ओल्ड पार्टी', *.फ़ायनेंनशियल टाइम्स,* 16 मई.

क्रिस्टॉफ़ जेफ़रेलॉ (2002), *इण्डियाज़ साइलेंट रिवोल्यूशन : द राइज़ ऑफ़ लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इण्डियन पॉलिटिक्स,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

के.सी. सूरी, पी. नरसिम्हा राव और वी. अंजी रेड्डी (2014), 'आंध्र प्रदेश : पॉलिटिकल शिफ्ट्स ऐंड इलेक्टोरल वोलेटैलिटी, सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

घनश्याम शाह और महाश्वेता जानी (2014), 'मोदीज़ पॉलिटिकल क्राफ़्ट ऐंड लिम्पिंग कांग्रेस', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज़वीद आलम (2005). *लोकतंत्र के तलबगार?,* (अनु. : अभय कुमार दुबे), वाणी प्रकाशन–सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

ज्योतिप्रसाद चटर्जी और सुप्रियो बसु (2014), 'परमानेंट इनकमबैंसी शैटर्ड : डिवेलपमेंट डायलेमा ऐंड इलेक्टोरल च्वाइस इन वेस्ट बंगाल', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

धीरूभाई शेठ, पीटर रोनॅल्ड डीसूजा और आदित्य निगम (2014), लोकसभा चुनाव (2014), राजनीतिक सिद्धांतकारों के बीच तितरफ़ा संवाद : क्यों हुआ, कैसे हुआ और अब क्या होगा?' *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति,* 2(2).

दीपांकर बसु (2009), 'द लेफ़्ट ऐंड द फ़िफ़्टींथ लोकसभा इलेक्शन्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 44(22).

नंदिनी सुंदर (2008). 'नॉन स्टेट एक्टर्स ऐंड द रूल ऑफ़ लॉ, *द हिंदू,* दिसम्बर 29.

महेश रंगराजन (2009), 'रीजनल पॉलिटिक्स शफ़ल्ड, डेल्ट अगेन', *एशियन ऐज,* 22 मई.

मिर्जा असमेर बेग, सुधीर कुमार और ए. के. वर्मा (2014), 'उत्तर प्रदेश : द ऐब ऐंड फ्लो ऑफ़ पार्टी सपोर्ट', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रभात पटनायक (2009), 'रिफ़्लेक्शंस ऑन द लेफ़्ट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 44(28).

प्रदीप छिब्बर (2009), 'आर नैशनल इलेक्शंस ऐनी मोर दैन ऐग्रीशंस ऑफ़ स्टेट लेविल वर्डिक्ट्स?', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 45(39).

बलबीर अरोड़ा (2003), 'फ़ेडेरलाइजेशन ऑफ़ इण्डियाज़ पार्टी सिस्टम', डी.डी. खन्ना, गर्ट क्युक और अजय के. मेहरा (सम्पा.), *पॉलिटिकल पार्टीज ऐंड पार्टी सिस्टम्स,* सेज पब्लिकेशंस,नयी दिल्ली.

राजदीप सरदेसाई (2009), 'मनमोहन सिंह : अ नेचुरल बॉर्न लीडर', *हिंदुस्तान टाइम्स,* 17 मई.

राहुल वर्मा (2014), 'लोकसभा चुनाव : गणित और निहितार्थ' (अनुवाद : नरेश गोस्वामी), *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति,* 2(2).

सुहास पलशीकर (2009), 'टेंटेटिव इमर्जेंस ऑफ़ अ न्यू ऐंड टेंटेटिव कोएलिशन?' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 44(21).

---------- (2014), 'चुनावी होड़ की समझ : मुद्दे और विश्लेषणात्मक संरचना' (अनुवाद : अरुण कुमार त्रिपाठी), *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति,* 2(1).

सुहास पलशीकर और के.सी. सूरी (2014), 'इण्डियाज़ 2014 लोकसभा इलेक्शंस : क्रिटिकल शिफ्ट्स इन द लॉन्ग टर्म, कॉशन इन द शॉर्ट टर्म', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 49(39): 39–49.

सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.) (2014क), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

------------------------------------ (2014ख), 'इण्ट्रोडक्शन : नॉर्मलाइजेशन ऑफ़ पोस्ट–कांग्रेस पॉलिटी', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुहास पलशीकर, राजेश्वरी देशपांडे और नितिन बिरमल (2014), 'सर्वाइवल इन मिड्स्ट ऑफ़ डिक्लाइन : अ डिकेड ऑफ़ कांग्रेस रूल इन महाराष्ट्र', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सुहास पलशीकर और संजय कुमार (2004), 'हाउ ब्रॉड बेस्ड इज़ द पार्टीशिपेटरी नॉर्म ?', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 39(51).

सोशल साइंसेज (2014). *लोकसभा इलेक्शन 2014, स्पेशल इश्यू इन कोलैबोरेशन विद लोकनीति,* सीएसडीएस, दिल्ली, 22(2).

सीमा चिश्ती (2009), 'द वर्डिक्ट', द *इण्डियन एक्सप्रेस,* 22 मई.

संजय कुमार (2013), 'भारत में मतदान व्यवहार : अध्ययन का इतिहास और उभरती चुनौतियाँ', *प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति,* 1(1).

संजय कुमार और राकेश रंजन (2014), 'बिहार : डिवेलपमेंट फ़ाइनली डिलिवर्ड', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.) (2009), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस इन 2004 ऐंड बियोंड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

संध्या गोस्वामी (2014), 'ट्रायम्फ़ फ़ॉर द कांग्रेस इन आसाम', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली .

सतीश देशपांडे (2014), 'चुनाव और हमारा विवेक', (कमल नयन चौबे को दिया गया साक्षात्कार), प्रतिमान : समय समाज संस्कृति, 2(2).

यतींद्र सिंह सिसोदिया (2014), 'मध्य प्रदेश : अनएक्सपेक्टेड गेंस फ़ॉर कांग्रेस', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

योगेंद्र यादव (1999), 'इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन द टाइम ऑफ़ चेंज : इण्डियाज़ थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम : 1989–99', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 34(34 और 35).

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2003), 'फ्रॉम हेजिमनी टू कंवर्जेंस : पार्टी सिस्टम ऐंड इलेक्टॉरल पालिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स– 1952–2002', *जर्नल ऑफ़ द इण्डियन स्कूल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी,* 14 (1 और 2).

--------------------- (2008). 'टेन थीसिस ऑन स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', *सेमिनार,* 591.

-------------------- –(2009), 'रिविजिटिंग 'थर्ड इलेक्टोरल सिस्टम': मैपिंग इलेक्टोरल ट्रेंड्स इन इण्डिया, 2004–09', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

----------------------(2014), 'बिटवीन फ़ॉर्चुना ऐंड वर्च्यु : एक्सप्लेनिंग कांग्रेस एम्बीगुअस विक्टरी इन 2009', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

हरिश्वर दयाल और बी.के. सिन्हा (2014), 'झारखण्ड डिफ़ाइस द नैशनल ट्रेंड', सुहास पलशीकर, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *पार्टीज़ कम्पिटीशन इन इण्डियन स्टेट्स : इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन पोस्ट कांग्रेस पॉलिटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.